

निरंजन सहाय

महात्मा गांधी काशी विद्यापीठ, वाराणसी में हिन्दी तथा आधुनिक भारतीय भाषा विभाग में एसोसिएट प्रोफेसर के पद पर कार्यरत हैं। समाज, संस्कृति और शिक्षा के अन्तर्संबंधों पर विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में नियमित लिखते रहते हैं।

अपने स्कूली अनुभव से आरंभ करते हुए लेखक तकरीबन 40 साल बाद अपने बच्चों के स्कूली अनुभव में झांकते हैं। यह लेख इस अवधि में आए बदलावों की छानबीन करता है। लेखक का मानना है कि इस दरम्यान स्कूली पाठ्यचर्या और पाठ्यपुस्तकों में सार्थक बदलाव हुए हैं लेकिन स्कूल में सीखने-सिखाने प्रक्रियाएं लगभग यथावत् हैं। बच्चों के सीखने के लिए स्कूल आज भी रुचिकर स्थान नहीं है। लेखक इसके कारण शिक्षक को जिम्मेदार ठहराने के बजाय शिक्षा तंत्र और सामाजिक मानसिकता में तलाशते हैं।

महत्त्वपूर्ण है शिक्षक

कुमार विकल की एक कविता है- 'खौफनाक समय के बच्चे'। इस कविता में दो दुनिया समानांतर चलती हैं। एक तरफ बच्चों की जिज्ञासाओं का संसार मुखर है जिसमें कहीं प्यारी मछलियों की चिंता है तो कहीं इस बात की फिक्र कि जो लोग उनकी चिंता करते हैं, उनसे बड़े नफरत क्यों करते हैं? दूसरी तरफ सवालियों से हताश-निरुत्तर वह संसार जो बात-बात में बच्चों को पीटने लगता है। मैं कविता की कुछ पंक्तियां उद्धृत करना चाहूंगा -

‘कितना खौफनाक समय है
जब बच्चे इतने खतरनाक सवाल पूछते हैं
कि उनका जवाब देने के लिए
हम इस हताश ढंग से निरुत्तर हो जाते हैं
कि उन्हें पीटने लगते हैं
जबकि हम जानते हैं
किसी को पीटना-मारना
किसी सवाल का जवाब नहीं
बच्चे तो हमेशा
नये-नये सवाल पूछते आए हैं
और भविष्य में भी पूछते जाएंगे



जैसे

मछलियां चश्मे क्यों नहीं पहन लेतीं
ताकि मछेरों को देख पाएं
और उनके जालों से भाग जाएं।¹

दरअसल बच्चों के सवालियों से ऊबी और घबराई शिक्षा व्यवस्था आज एक बेहद नाजुक मोड़ पर खड़ी है। यह कविता यह बताने का प्रयास करती है कि कैसे हमारी अपनी हताशा-कुंठा और बेबसी रोजमर्रा के जीवन से बच्चों की जिज्ञासाओं और हंसी को बेदखल करती है।

बच्चों की गुनाहगार व्यवस्था

हमारी शिक्षा यात्रा वास्तविकता में बहुत जटिल है। बच्चों की गुनाहगार व्यवस्था में एक तरफ शिक्षक है तो दूसरी तरफ नौकरशाही की गिरफ्त में खंडित होता उसका व्यक्तित्व। आए दिन कभी जनगणना, कभी पशु गणना, कभी मतदाता पहचान पत्र सर्वेक्षण तो कभी कोई और सरकारी फरमान को निबाहते लाचार-कराहते शिक्षक तो कभी इसे प्राथमिक जिम्मेदारी करार देने वाली हमारी तथाकथित विकास नीतियां। एक तरफ उपेक्षित शैक्षिक विकास की नीतियां हैं तो दूसरी तरफ बचपन को उदासी में तब्दील करता तथाकथित ज्ञान का कानफोडू शोर। बचपन से ही व्यक्ति को लाचार मानने और बनाने का लंबा प्रशिक्षण भी कम जिम्मेदार नहीं है, जिसमें एक तरफ आत्मविश्वास को कुंद करती दीनतापूर्ण प्रार्थनाओं से शुरू होती दिनचर्या है तो दूसरी तरफ बच्चों की चेतना से साधारण पात्रों के संघर्षों-सपनों को बहिष्कृत करते ऐसे महान पात्रों का तथाकथित गौरवपूर्ण इतिहास जो अपनी महानता की आंधी में बचपन को और भी करुण और हीन बनाता है।

मेरे अध्यापक

बचपन में तकरीबन एक वर्ष तक मेरी पढ़ाई बिहार के एक मठ में हुई। वे मेरे सबसे खुशनुमा दिन थे। हम समवेत स्वर में गा-गा कर गिनती, पहाड़े और वर्णमाला के ककहरे कब सीख गए पता ही नहीं चला। मठ का कोई शुल्क नहीं हुआ करता था। हम उपले, आटा या कोई मौसमी सब्जी बारी-बारी से गुरु जी की सेवा में अर्पित करते थे।

पिता रेलवे में शिक्षक थे। एक दिन पिता के साथ हम भाई-बहन भी गांव से शहर पहुंच गए। वहां जिस स्कूल में हमारा दाखिला हुआ वह एक सरकारी प्राथमिक विद्यालय था। दूसरे ही दिन विद्यालय में लिखने की बारी आई तब मास्साब ने कहा कि ककहरा लिखो और खुद कुर्सी पर बैठकर ऊंघने लगे। मेरी तब तक की शिक्षा में लिखना था ही नहीं। लिहाजा मैं लिख नहीं पाया और सहमा-सा थोड़ी देर बैठने के बाद कुछ आड़ी-तिरछी लकीरें खींचने लगा। थोड़ी देर में झपकी टूटने के बाद शिक्षक हम सभी के स्लेट देखने लगे। मेरी स्लेट पर कोई इबारत न पाकर शिक्षक आग-बबूला हो गए और पिता की नजीर देकर मुझे सजा देने का नायाब तरीका निकाला। दांये हाथ की प्रथमा और मध्यमा उंगलियों के बीच चाँक को रख उंगलियों को दबाया गया।

उस असहनीय पीड़ा का अंजाम यह हुआ कि दूसरे दिन साफ-तौर पर मैंने स्कूल जाने से इंकार कर दिया। मां ने थोड़ी पिटाई की और घर में रहने की अनुमति मिल गई। इस तरह चार दिन बीत गए। इस बीच लगभग यह मान लिया गया कि मैं अपने खानदान की एक दिन नाक कटवाकर दम लूंगा।

1. कुमार विकल, खौफनाक समय के बच्चे, आधार चयन: कविताएं, पृष्ठ संख्या 99, आधार प्रकाशन, पंचकुला हरियाणा, प्रथम संस्करण-1999।

पांचवे दिन ऊंची कक्षाओं के पांच लड़के आए और मुझे घसीटते हुए स्कूल ले जाने लगे। मैं जमीन पर लोटने लगा। आखिर दो लड़कों ने मेरे हाथ पकड़े और दो ने मेरे पैर। मुझे उठाकर स्कूल पहुंचाया गया। वहां फिर से मुझे पिता की नजीर दी गई और मूर्खता के कई विशेषणों से नवाजे जाने के बाद स्कूल में बैठा दिया गया। फिर तो आए दिन सजाओं का सिलसिला चल निकला। कभी मुर्गा तो कभी छड़ी, कभी बैंच पर खड़ा होने का आदेश तो कभी कक्षा के बाहर खड़ा होने का फरमान।

साल भर बाद फिर स्कूल बदला गया। अबकी सनातन धर्म स्कूल में दाखिला करवाया गया। वहां भी मेरी उद्वेगिता और मूर्खता के किस्से मशहूर हो गए। मामले का सबसे दुखद पहलू यह रहा कि किसी ने मेरे मन को टटोलने की कोशिश नहीं की। फिर स्कूल बदला गया और इस बार रेलवे का वह स्कूल जहां पिता खुद अध्यापक थे। वहां एक ईसाई एम.पी.नथानियल अध्यापिका थीं और प्रधानाध्यापक सिक्ख करतार सिंह। यह संयोग ही था कि दोनों ने मेरे मन को टटोलते हुए स्कूल की दुनिया में शरीक किया। नतीजा यह निकला कि तीसरी कक्षा में मेरी न केवल पढ़ाई में रुचि जागी बल्कि मैं अब्बल भी आया। मेरे संसार में वे दोनों शिक्षक न होते तो शायद ही मैं पढ़ पाता।

राजस्थान के एक कॉलेज में ग्यारह वर्षों तक अध्यापन के दौरान शिक्षा संबंधी अपनी दिलचस्पियों के कारण जिन स्कूली बच्चों से मैं घुलता-मिलता रहा उनमें कुछ तो सवर्ण शिक्षकों द्वारा जातिगत उपेक्षा से ग्रसित वे बच्चे थे जो दलित-आदिवासी थे तो कुछ वे जिन्हें शिक्षकों से लगातार दुल्कार और तिरस्कार मिला। उनमें से अधिकांश ने बीच में ही पढ़ाई को अलविदा कह दिया।

आज के अध्यापक

अब मेरे बच्चे केन्द्रीय विद्यालय में पढ़ते हैं। उदयपुर (राजस्थान) में शिक्षक-अभिभावक मीटिंग के दौरान दूसरी कक्षा में पढ़ने वाले मेरे बच्चे के बारे में बताया गया कि आपका बच्चा पहाड़े नहीं जानता, उसे दस तक पहाड़े तो आने ही चाहिए। इस पर मैंने अध्यापिका को याद दिलाया कि आप कृपया गणित की किताब देखें, आप पाएंगी कि ऐसा कोई निर्देश नहीं है। राष्ट्रीय पाठ्यचर्या 2005 के मुताबिक तीसरी कक्षा के दौरान गुणा करते हुए टेबल से परिचित होते हुए गणित की दुनिया में व्यावहारिक प्रवेश करने की वकालत की गई है। मेरी इस बात पर शिक्षिका मुझे इस नजर से देखने लगीं, गोया मुझे अपने बच्चे की चिंता नहीं।

केन्द्रीय विद्यालय, वाराणसी (उत्तर प्रदेश) में बच्चे को यह समझ नहीं आया कि जब उसने $3+3=6$ लिखा है तब उसकी अध्यापिका ने उत्तर को गलत क्यों ठहराया है। मैं बच्चे को लेकर स्कूल गया और इस संबंध में बात की। उत्तर मिला सवाल $3+3=6$ नहीं था बल्कि सवाल $3+2=5$ था। मैंने निवेदन किया कि हो सकता है कि बच्चा ऐसी जगह पर बैठा हो जहां से उसे ब्लैकबोर्ड की लिखावट ठीक से न दिख रही हो या फिर 2 इस तरह से लिखा गया हो कि वह 3 का भी आभास देता हो। मैंने यह भी याद दिलाया कि सवाल तो समझ के कौशल को विकसित करने का माध्यम भर है। यदि गलत करार दिया जाए तो बच्चे में समझ के हतोत्साहित होने का खतरा है। इस बार शिक्षिका ने मुझे इस तरह देखा जैसे मैं बिना वजह उनका कीमती समय नष्ट कर रहा हूं। जाते-जाते उन्होंने यह कहा कि आप बच्चे को घर पर जरूर समझाएं कि वह सवाल सही-सही उतारे।

उसी तरह एक दिन नए कक्षा अध्यापक से जब मैंने यह जिज्ञासा जाहिर की कि क्यों मेरे जुड़वां बच्चे में बड़े को जिस उत्तर के लिए टेस्ट के दौरान सही ठहराया गया उसी उत्तर के लिए छोटे को गलत ठहराया गया। उत्तर कक्षा के सारे बच्चों की मौजूदगी में मिला, “बच्चा पर ध्यान दीजिए, बहुत कमजोर है।” यह सुनकर बेटा रुआंसा हो गया। अब मेरा धैर्य जवाब देने लगा। मैंने कहा कि यह मेरे प्रश्न का जवाब नहीं है। फिर मुझे वे प्राचार्य कक्ष की ओर ले गए और मेरी शिकायत लगभग चिल्लाते हुए स्वर में करने लगे कि मैं किस तरह उनका समय बर्बाद कर रहा हूं।

प्राचार्य मुझे पहचानते थे उन्होंने शिक्षक को समझाते हुए यह बताया कि पिछले कई वर्षों से मैं शिक्षा के मुद्दे पर काम कर रहा हूं। अब शिक्षक के स्वर में थोड़ी नरमी आई। कहने लगे, “आप चिंता मत करिए नंबर बढ़ा देंगे।” मैंने कहा, “नंबर मेरा प्रयोजन नहीं है।” तब उनका कहना था, “तब आप फालतुए न हमको प्राचार्य के कमरे में ले गए।” मैंने उन्हें याद दिलाया कि वहां तो आप ही ले गए थे। मामले का सबसे दुखद पहलू यह रहा है कि मैं यह समझाने में असफल रहा कि बालमन पर जाने-अनजाने शिक्षक और परिवेश द्वारा दी गई यंत्रणाओं का कैसा दुष्प्रभाव पड़ता है?

अभी कुछ ही दिन पहले बच्चों ने बताया कि हमारे अंग्रेजी स्पोकेन वाले सर बात-बात में ‘गधा’ कहते हैं? स्कूल और गुरुजन के प्रति बच्चों के मन में अनास्था न जगे, लिहाजा मैंने बच्चों से कहा कि शायद तुम लोग उनकी बातों पर ध्यान नहीं

देते होंगे। पर मन-ही-मन मैंने तय किया कि अभिभावक-शिक्षक मीटिंग के दौरान इस बात को उठाऊंगा।

मैं इस सिलसिले में स्कूल गया और प्राचार्य महोदय से बात की। संवेदनशील प्राचार्य ने उक्त अध्यापक को बुलाया और कहा कि आप बच्चों से असंसदीय भाषा में बात करते हैं, ऐसी सूचना है। आगे इस तरह की गलती न हो ऐसी चेतावनी प्राचार्य महोदय ने दी। पर कमरे से बाहर निकलते हुए उक्त अध्यापक ने मुझे इस निगाह से देखा मानो वह कहना चाह रहा हो कि आपको पहले संकेत कर देना चाहिए था कि आपके बच्चे हैं, फिर मैं खास ध्यान रखता। पर मेरे मन समेत उन बच्चों के सपनों का क्या होगा, जो भयमुक्त और अपनापे भरे अध्ययन के दौर की शुरुआत होने की उम्मीद बरसों से कर रहे हैं और जो शायद अब और बर्दाश्त करने की स्थिति में नहीं है।

पढ़ाई में दबाव और रुचि के प्रश्न

एक आत्मीय मुलाकात के दौरान मेरे एक शिक्षक मित्र कहने लगे कि आपको नहीं लगता कि एन.सी.ई.आर.टी. की किताब पढ़ने वाले केन्द्रीय विद्यालय के बच्चों का सिलेबस काफी आसान है, कितना कम जानते हैं ये बच्चे। मैंने उनकी बात ध्यान से समझने की कोशिश की।

दरअसल वे चाहते थे कि बच्चे अपनी उम्र से ज्यादा जानें। साथ ही उन्हें यह भी लगता था कि यह कैसी पढ़ाई है, जिसमें बच्चों पर पढ़ाई का दबाव ही नहीं। दरअसल वे आनंदपूर्ण अध्ययन को लापरवाही समझने की गलती कर रहे थे। मैंने उनको समझाने की कोशिश की कि देखिए, यदि बच्चे लालच और दंड की धुरी से संचालित होकर प्रदर्शनमूलक या यातनापूर्ण शिक्षा अर्जित करें तो यह घातक है। इससे कुछ वर्षों बाद ही बच्चे के बिखरने का या पढ़ाई से रुचि घटने का दौर शुरू हो सकता है। मैंने रोजमर्रा के व्यावहारिक जीवन से एक नजीर देने की कोशिश की कि यदि किसी पात्र में हम उसकी क्षमता से अधिक तरल या ठोस पदार्थ भरें तो पात्र के दरकने या बिखरने का खतरा रहता है। पता नहीं वे मेरी बात कितना समझे, पर यह घटना इस बात की ओर जरूर संकेत कर गई कि हमारे अध्यापकों में मौजूदा प्रणाली और बदलाव भरे अध्ययन के प्रति गहरे अविश्वास का भाव है। मुझे यह कहने में कोई गुरेज नहीं कि राष्ट्रीय पाठ्यचर्या 2005 के मंथन से उपजी संवेदनशील स्वाधीन चेतना, आलोचनात्मक दृष्टि तथा समझ के कौशल के सिलसिले के आलोक में जिस

आकांक्षा की रूपरेखा तय हुई, उनके प्रभावों की मौजूदगी फिलहाल बहुत सुखद नजर नहीं आ रही।

स्कूली हिंसा की विरासत

ध्यान दें तो इनके पीछे अनेक कारकों की मौजूदगी है। हिंसा की जो संस्कृति स्कूलों में दिखती है, उसकी एक लंबी विरासत है। यह अलग बात है कि उसके कारकों में बदलाव जरूर होते रहे हैं। मशहूर शिक्षाशास्त्री कृष्ण कुमार ने लिखा है कि हमारी व्यवस्था में स्कूल को हिंसक बनाने वाले तत्व लगातार सक्रिय रहे हैं। विरासत चाहे अंग्रेजी राज से मानें, चाहे शिक्षा प्रणाली की स्थापना के पहले चल रही शिक्षा से, बच्चों पर हिंसा हमारी स्कूली संस्कृति का स्वीकृत अंग रही है। परंपरा ने शिक्षक को यह अधिकार सुदूर अतीत में दे दिया था कि वह बच्चे को जैसा चाहे दंड दे। हाल के वर्षों में शिक्षक की अपनी परिस्थितियां कुछ इस तरह बदली हैं कि वह अपनी सारी निराशा, बेबसी और ऊब बच्चों पर उतारने लगा है। समाज और स्वयं शिक्षा विभाग में शिक्षक की लाचारी जैसे-जैसे बढ़ी है, स्कूल की चारदीवारी में उसकी तानाशाही और क्रूरता भी साथ-साथ बढ़ी है। समाज बच्चों के प्रति उदासीन है और सरकार की चिंता प्रायः फर्जी हुआ करती है, इन अहसासों ने शिक्षक के हाथ को और ज्यादा खोल दिया है। कक्षाओं और बरामदे में शिक्षक की बात बच्चे को मधुर वाणी में सुनने को नहीं मिलती और शिक्षक का हाथ यदि चॉक या छड़ी में अटका हुआ नहीं है तो सीधे बच्चे के बालों या गाल की तरफ आता दिखता है।²

दरअसल जब तक स्वयं शिक्षक का सम्मान समाज में नहीं बढ़ता और शिक्षक के मन में अपने काम के प्रति कोई रागात्मक नजरिया विकसित नहीं होता तब तक शिक्षक उसी मध्यकालीन सामंती नजरिए से संचालित होगा जिसमें व्यक्ति सत्ता के स्वीकार के स्थान पर धनबल या बाहुबल के आतंक से अर्जित पाशविकता को ज्ञान की अपेक्षा तरजीह दी जाती है।

विख्यात अमेरिकी शिक्षाशास्त्री जॉन होल्ट ने आधुनिक स्कूली व्यवस्था का अध्ययन करते हुए पाया कि हमारे स्कूल जेल बन चुके हैं। प्रधानाध्यापक जेलर, शिक्षक सिपाही, क्लास मॉनिटर जेलर और सिपाहियों के लिए जासूसी करते हैं। अपने से असहमत या स्कूली व्यवस्था के प्रति आलोचनात्मक नजरिया रखने वाले बच्चे के लिए दंड का प्रावधान और व्यवस्था के पक्ष में खड़े बच्चों के लिए पुरस्कार का लालच। होल्ट आगे कहते हैं

2. कृष्ण कुमार, पहाड़ी धीरज की घुटन, दीवार का इस्तेमाल और अन्य लेख, पृष्ठ संख्या 68-69, एकलव्य भोपाल, मध्य प्रदेश, जनवरी, 2008।

कि स्कूल दंड और लालसा की धुरी पर चल रहे हैं।³ भारतीय संदर्भों में स्थितियां और भी भयावह हैं। विकास तंत्र भी स्कूल को लगातार उपेक्षित किए हुए हैं। उपेक्षा का आलम यह है कि भारत जैसे विकासशील देशों में स्कूलों और अस्पतालों की हालत सबसे ज्यादा खराब नजर आती है। जिस देश की शिक्षा और सेहत खराब होगी उस देश में हर तरफ अव्यवस्था होगी। स्कूली व्यवस्था की अव्यवस्था से उपजी खराबी का विस्तार हमें हर तरफ आसानी से नजर आ जाता है।

निर्भीक बच्चे और भारत का भविष्य

ब्रितानी हुकूमत के दौरान जब औपनिवेशिक ताकतों से संघर्ष हो रहा था, तब इस संदर्भ का विशेष ध्यान रखा गया कि निर्भीक और आजाद बच्चे भविष्य के भारत की नींव बनें। तत्कालीन कहानियों और बाल पत्रिकाओं की विषय सामग्री में इस तथ्य की उपस्थिति दिख जाती है। कृष्ण कुमार ने उस दौर को याद करते हुए लिखा है : बच्चों की लोकप्रिय पत्रिका 'वानर' के 1933 के एक संपादकीय में चेतावनी दी गई थी कि बच्चे ऐसे प्रार्थना-गीतों में विश्वास न करें जिनमें बच्चों को असहाय, कमजोर और ईश्वर की कृपा पर आश्रित बताया गया हो। बच्चों की दीनतापूर्ण छवि, जो भारत समेत कई समाजों में लम्बे समय से प्रचलित रही है, चौथे और पांचवें दशक के बाल साहित्य लेखकों को स्वीकार नहीं थी। वे बचपन की मुक्ति को समाज की मुक्ति की तैयारी और शर्त मानते थे।⁴

कहना न होगा अब ऐसी चिंताएं दुर्लभ हैं। सिर्फ इतना ही नहीं अब तो लगभग सभी स्कूलों की शुरुआत ऐसे ही प्रार्थना-गीतों से होती है, जिनमें इस बात की स्थापना होती है कि बच्चे दीन-हीन और अकिंचन हैं और एकमात्र ईश्वर ही उनके दुख-दर्द को जीवन से दूर भगा सकता है।

कब होंगे बाखबर?

बच्चों में केवल उन्हीं सूचनाओं या ज्ञान का प्रवाह होता है जो शासन तंत्र या बाजारवादी समझ से संचालित विद्यालय चाहते हैं। नतीजा यह होता है कि बच्चों की पढ़ाई के प्रति अरुचि लगातार बढ़ती जाती है। ज्यादातर स्कूलों में प्राथमिक स्तर पर पुस्तकालय हैं ही नहीं, माध्यमिक स्तर के पुस्तकालयों का हाल भी कोई खास अच्छा नहीं। किताबें ऐसी जो पुस्तकालय में मानो

बच्चों को चिढ़ाती हैं, यानी ऐसी पुस्तकें जो पाठ्यपुस्तकों का ही विस्तार लगती हैं, जैसे-साफ पानी के फायदे, पेड़ मत काटो, एड्स क्या है, पर्यावरण कैसे हो स्वच्छ, आदि। ऐसी किताबें नहीं होतीं जो आलोचनात्मक नजरिया विकसित करें या फिर ऐसी भी नहीं जिनमें तितलियां, फूल, नदी या चांद-सितारों का संगीत हो। बच्चों के घर में भी उनकी पसंदीदा पुस्तकों के लिए कोई जगह नहीं, यदि पुस्तकें आए भी तो या तो महापुरुषों की उबाऊ जीवनियां या फिर तथाकथित कैरियर की निगाह से निर्मित वे सरकारी सूचना युक्त पुस्तकें जो बच्चों से बचपन छीन उन्हें बूढ़ा बनाएं। बच्चों का मन शायद बरसों से इस उम्मीद में है जैसा कि सुपरिचित शिक्षाविद रमेश दवे ने उल्लेख किया है, “क्या हमें खेलों पर किताबें मिलेंगी, खिलौने बनाने और कागज, मिट्टी, लकड़ी, घास आदि से खेलने और खिलौने बनाने दिया जाएगा? क्या हमें जंगल, परी, राजा-रानी, पशु-पक्षी, कहानी, गीत, कविता, नाटक इन सबकी किताबें दी जाएंगी? क्या हम किताबें पढ़कर ड्राइंग करना, अच्छे-अच्छे गीत याद करना सीख सकेंगे? हमें तो अभी तक ऐसी किताबें मिली हैं जैसे बच्चों को कोई कड़वी दवा पिलाई जा रही हो।”⁵

अंत में केवल इतना ही कि बच्चों की दुनिया से लगातार दूर होते जा रहे शैक्षिक परिदृश्य से बेखबर रहते हुए हमने बरसों गुजार दिए। अब भी बाखबर न होना बच्चों के प्रति हिंसक समाज के निर्माण में सहायक होना है। ♦

3. जॉन होल्ड, असफल स्कूल, अनुवाद-अरविन्द गुप्ता, एकलव्य भोपाल, मध्य प्रदेश, जून, 2006।

4. कृष्ण कुमार, आजाद बच्चे फिर जन्म लेंगे, दीवार का इस्तेमाल और अन्य लेख, पृष्ठ संख्या 32, एकलव्य भोपाल, मध्य प्रदेश, जनवरी, 2008।

5. रमेश दवे, मेरा पुस्तकालय मेरे मन का, मैं इस तरह नहीं पढ़ूंगी, पृष्ठ संख्या 65, ग्रंथ शिल्पी प्रकाशन, दिल्ली, 2009।